स्नातक तृतीय खण्ड हिंदी प्रतिष्ठा, पंचम पत्र

- प्रो० हरे कृष्ण का हरि, एसोसियेट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, जे० एन० कॉलेज, मधुबनी

WEDNESDAY • MAY 21

यशपाल लिखित 'दिव्या' उपन्यास का कथा-विवेचन

सन् 1945 ई० में प्रकाशित 'दिव्या' बौद्धकालीन कथानक पर आधारित यशपाल की एक औपन्यासिक कृति है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन समाज विशेषकर वर्ण-व्यवस्था तथा दास प्रथा के इतिहास को अपनी विशद कल्पना के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अस्तु 'दिव्या' इतिहास नहीं इतिहास पर आधारित सफल कल्पना-चित्र है।

'दिव्या' में लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से समाज का विश्लेषण किया है। तत्कालीन समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप परिलक्षित होते हैं - एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शोषक वर्ग के अन्तर्गत सामन्त श्रेष्ठी और कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि आते हैं। दासी आदि निम्न वर्ग शोषित वर्ग था। दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष बढ़ता गया जिसका मूल कारण था वर्ण-व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत जातीय भेद-भाव व्यापक उग्र होता जा रहा था। अतएव उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। उस समय का कुलीन समाज वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था, अतएव इतर जातियों के मन में उसके प्रति विरोध-भाव उत्पन्न होने लगा था। 'दिव्या' उपन्यास में रुद्रधीर शोषक वर्ग के प्रतिनिधि थे और पृथुसेन शोषितों के नायक।

'दिव्या' में युग में भी अर्थ-शक्ति ही मूलतः समाज में निर्णायिका की भूमिका प्रस्तुत करती थी। दास-व्यापारी-प्रेस्थ अपने सम्पत्ति के सहयोग तथा युद्धकाल में राजकोष में आवश्यकतानुसार दान देने के कारण ही गणपति का प्रमुख परामर्शक बनता है। उसी की प्रेरणा से गण-शासन का समस्त अधिकार गणपति स्वयं ग्रहण कर लेता है। फलतः रुद्रधीर को पृथुसेन का अपमान के अपराध में धर्मस्थान से दो हजार दिवसों का प्रवास-दण्ड मिलता है और पृथुसेन को प्रेस्थ की नीति के कारण सेनापति का पद दिया जाता है।

विजयी पृथुसेन अपनी शक्ति और सामर्थ्य के कारण सम्मान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित होता है। गणपति की पोती सीरो से उसका विवाह होता है। वस्तुतः यह विवाह गणपति बनने की उसकी महत्वाकांक्षा का एक साधन था। पिता की नीति से प्रभावित महत्वाकांक्षा

2014

JUNE 2014
M T W T F S S
30 1
2 3 4 5 6 7 8
9 10 11 12 13 14 15
16 17 18 19 20 21 22
23 24 25 26 27 28 29

DAY 141-224 • WK 21
WEDNESDAY • MAY 21

- प्रो० हरे कृष्ण झा 'हरि', एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जे० एन० कॉलेज, मधुबनी

यशपाल लिखित 'दिव्या' उपन्यास का कथा-विवेचन

सन् 1945 ई० में प्रकाशित 'दिव्या' बौद्धकालीन कथानक पर आधारित यशपाल की एक औपन्यासिक कृति है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन समाज विशेषकर वर्ण-व्यवस्था तथा दास प्रथा के इतिहास को अपनी विशद कल्पना के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अस्तु, दिव्या इतिहास नहीं इतिहास पर आधारित सफल कल्पना-चित्र है।

'दिव्या' में लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से समाज का विश्लेषण किया है। तत्कालीन समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप परिलक्षित होते हैं- एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शोषक वर्ग के अन्तर्गत सामन्त श्रेष्ठी और कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि आते हैं। दासों आदि निम्न वर्ग शोषित वर्ग था। दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष बढ़ता गया जिसका मूल कारण था वर्ण-व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्ग जातीय भेद-भाव व्यापक उग्र होता जा रहा था। अतएव उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। उस समय का कुलीन समाज वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था, अतएव इतर जातियों के मन में उसके प्रति विरोध-भाव उत्पन्न होने लगा था। 'दिव्या' उपन्यास में रुद्रधीर शोषक वर्ग के प्रतिनिधि थे और पृथुसेन शोषितों के नायक।

'दिव्या' में युग में भी अर्थ-शक्ति ही मूलतः समाज में निर्णायक की भूमिका प्रस्तुत करती थी। दास-व्यापारी-प्रेस्थ अपने सम्पत्ति के सहयोग तथा युद्धकाल में राजकोष में आवश्यकतानुसार दान देने के कारण ही गणपति का प्रमुख परामर्शक बनता है। उसी की प्रेरणा से गण-शासन का समस्त अधिकार गणपति स्वयं ग्रहण कर लेता है। फलतः रुद्रधीर को पृथुसेन का अपमान के अपराध में धर्मस्थान से दो हजार दिवसों का प्रवास-दण्ड मिलता है और पृथुसेन को प्रेस्थ की नीति के कारण सेनापति का पद दिया जाता है।

विजयी पृथुसेन अपनी शक्ति और सामर्थ्य के कारण सम्मान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित होता है। गणपति की पोती सीरो से उसका विवाह होता है। वस्तुतः यह विवाह गणपति बनने की उसकी महत्वाकांक्षा का एक साधन था। पिता की नीति से प्रभावित महत्वाकांक्षी

विपथगा की कौतिकारिणी, काना हृन का वर्ण......

पृथुसेन दिव्या को द्वितीय पत्नी के रूप में पाने की कामना भी मन में लिए रहता है। 'दिव्या' के कथानक में लेखक ने यह दर्शाया है कि नैतिकता और धर्म-सम्बन्धी धारणाएँ शाश्वत नहीं हैं। यह तो आर्थिक परिस्थितियों के साथ अपना रूप परिवर्तित करती रहती हैं। 'दिव्या' के बदलते हुए जीवन के मूल में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण-पुत्री दिव्या अंशुमाला के रूप में नर्तकी बनती है। वह वेश्या बनने के लिए भी प्रस्तुत है। पर वेश्या के आसन पर बैठते हुए देखकर उस समय का शोषक समाज नैतिकता नैतिकता और धर्म की आड लेकर उसके उस कृत्य का विरोध करता है। आचार्य रुद्रधीर उसे सामान्य जन की भोग्या नहीं बनने देना चाहते हैं और इसलिए वर्णाश्रम व्यवस्था को त्रिकाल के सत्य बताते हुए दिव्या को राजनर्तकी मल्लिका की उत्तराधिकारिणी बनने का विरोध करते हैं। परन्तु पांथशाला में पहुँच कर वही रुद्रधीर दिव्या को महादेवी के पद पर प्रतिष्ठापित करने की प्रतिज्ञा भी करते हैं। दिव्या अब न तो कुमारी थी, न द्विजकन्या ही, वह नर्तकी अंशुमाला थी पर शोषक समाज इन बातों की उपेक्षा करके नारीत्व का शोषण करता है। अतः दिव्या अंत में शाश्वत प्रेम की धारणा को तिरस्कृत करते हुए दार्शनिक मारिश का आश्रय ग्रहण करती है। कथानक में समाज-व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, प्रेम सबको बदलता हुआ दिखाया गया है।

विवेच्य उपन्यास में दो शक्तियाँ आरम्भ से ही कार्यरत हैं। पृथुसेन के रूप में यदि समाज की प्रगतिशील शक्ति दिखाई पड़ती है, तो रुद्रधीर के रूप में प्रतिक्रियावादी शक्ति भी। कथानक विकास इन्हीं दो परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष से होता है। परन्तु प्रगतिशील शक्ति का प्रतीक पृथुसेन अंततः तथागत का धर्म स्वीकार कर समाज से पलायन करता है और रुद्रधीर के रूप में दूसरी शक्ति विजयिनी होती है। यद्यपि दूसरी ओर पर मारिश के रूप में प्रगतिशील शक्ति अग्रसर होती है परन्तु कथानक के अंत में रुद्रधीर का उत्थान लेखक के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुरूप दिखाई नहीं पड़ता।

कथानक में एक साथ तीन दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मण धर्म वर्णाश्रमधर्म दृष्टि को प्रस्तुत करता है, निर्वाणवादी, वेदविरोधी बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म का विरोध करता है और मारिश सर्वांशतः धर्म विरोधी ही है। वह वस्तुतः लेखक के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रवक्ता है। यद्यपि उसके पीछे कोई वर्ग नहीं है, पर उसे लेखक

का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। इसी लिए अन्त में दिव्या की प्राप्ति के संदर्भ में उसी की विजय होती है।

'दिव्या' में यशपाल ने कला को जीवन का उपकरण मात्र माना है — 'कला केवल उपकरण मात्र है। कला जीवन के लिए है और उसकी पूर्ति में ही है।" मारिश जीवन से विरक्त, पर जीवन के उपकरण कला से अनुराग करने वाली अंशुमाला की भर्त्सना करते हुए, इस प्रवृत्ति को भयंकर प्रवंचना मानता है। लेखक जीवन का लक्ष्य भोग मानता है — वह भोग जो इसी स्थूल जीवन में भौतिक साधनों के सहारे किया जाता है। परलोक में अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया त्याग, त्याग नहीं है। मारिश रत्न प्रभा की परलोकवादी दृष्टि पर व्यंग्य करता हुआ कहता है — "परलोक में अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग त्याग नहीं। तुम्हारी आशा और विश्वास के अनुसार यह त्याग भोग की आशा का मूल्य है। भोग की इच्छा है, तो साधन रहते भोग करो।"

'दिव्या' में मनुष्य, मनुष्य का सम्बन्ध सामाजिक दृष्टि से सहज रूप में दिखाया गया है। जीवन में सेक्स का महत्वपूर्ण स्थान है। सेक्स के कारण ही नर-नारी परस्पर आकर्षण और प्रेम में बँधते हैं। जाति और धर्म सेक्स के सामने व्यर्थ हो जाते हैं। पृथुसेन के प्रति दिव्या का समर्पण इसका स्पष्ट दृष्टान्त है। सामन्ती युग में शोषक वर्ग न केवल साधनहीन मनुष्यों का शोषण करता है, अपितु वह नारी के नारीत्व का भी शोषण किया करता है। वह उसे कभी धार्मिक दृष्टि से, कभी आर्थिक दृष्टि से पंगु बनाकर भोग्या बनाने के लिए बाध्य कर देता है।

दिव्या के कथानक में लेखक ने सर्वत्र मार्क्सवादी दृष्टि का अनुसरण नहीं कर पाया है। कथानक के अंत में पृथुसेन का पतन और रुद्रधीर का उत्थान मार्क्स के विकासवादी दर्शन के अनुरूप नहीं है। कथानक के उत्पादन और वितरण की शक्तियों को भी मार्क्सीय दृष्टि से सम्यक् रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है और ऐसा करना संभव भी नहीं था, क्योंकि कथानक में सीमित काल ही चित्र अंकित है। इतने सीमित काल में न तो उत्पादन और न वितरण की व्यवस्था को प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास चूँकि सामन्ती युग के संदर्भ में लिखा गया है, इसलिए मार्क्सवादी व्याख्या भी आंशिक रूप में ही उपलब्ध है, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड आदि के आधार पर ही निरूपित हुए थे।

:o:

'दिव्या' उपन्यास के आधार पर मारिश का चरित्र-चित्रण।

'दिव्या' उपन्यास में मारिश यशपाल की सृजन-चेतना से उद्भूत एक विलक्षण चरित्र-सृष्टि है जो अपने चिंतन-तेज से जीवन पर आच्छादित अनेक प्रकार की भ्रांतियों के तिमिर-जाल को विच्छिन्न कर विशुद्ध जीवन को देखने और तदनुरूप आचरण-व्यवहार में उतारने में विश्वास रखता है। यशपाल ने 'दिव्या' के प्राक्कथन में उपनिषद्के एक वाक्य को उद्धृत करते हुए लिखा है- 'न मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' - मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है। मारिश की चेतना का प्रत्येक अणु इसी विश्वास की सुगंधि से सुवासित है। जहाँ कहीं भी, किसी भी प्रकार का आरोपण करके उसे मनुष्य से महत्तर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है मारिश की चेतना का क्षोभ ज्वार बनकर उसे निगल जाना चाहता है, उस पर पूरी निर्ममता से प्रहार कर उसे भस्मीभूत कर डालना चाहता है। अपने युग के विविध भाँति के आरोपणों अंधविश्वासों के वात्याचक्रों को चीर कर मारिश कार्य-कारण शृंखला-मूलक चिंतन के उस बिन्दु पर अवस्थित दिखाई देता है, जो आज के भौतिकवादी चिंतन का मूल स्वर है। यही कारण है कि इतिहास के बौद्धकाल का लोकायत का समर्थक, चार्वाक मारिश आज हमें मार्क्सवादी का प्रवक्ता प्रतीत होता है।

मारिश कला, धर्म, दर्शन आदि सभी शास्त्रों और विद्याओं को मानव-जीवन के सुख-संतोष का तथा उसे उदात्ततर बनाने का उपकरण स्वीकार करता है। जहाँ कहीं भी व्यक्ति की दृष्टि जीवन से हटकर जीवन उपकरणों पर अटकी दिखाई पड़ती है, मारिश की मानव-महिमा में विश्वास करनेवाली भौतिकवादी चेतना उसे पुनः जीवन पर टिकाने के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होती है। रत्नप्रभा के प्रासाद में जीवन से विरत-वीतराग परन्तु कला को जीवन लक्ष्य मानने लगनेवाली अंशुमाला (दिव्या) के वार्तालाप के समय वह कला को परिभाषित करते हुए दिव्या को जीवनोन्मुखी करने का प्रयास करता है- 'कला केवल उपकरण मात्र है। कला जीवन के लिए और उसकी पूर्ति में ही है। जीवन से विरक्ति और जीवन के उपकरण से अनुराग क्या

अर्थ है?

दुःख से प्रताड़ित और त्रस्त दिव्या अपने नर्तकी जीवन अपनाने की विवशता
को भाग्य अथवा कर्मफल बताती है, तो मारिश जीवन-दर्शन के भाग्यवादी
पक्ष का पूर्ण शक्ति से तिरस्कार करते हुए कहता है- 'जीवन में एक समय
प्रयत्न की असफलता मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नहीं है। जीवन का हम
अंत नहीं देख पाते, वह निस्सीम है। वैसे मनुष्य का प्रयत्न या चेष्टा भी सीमित
क्यों हो? असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है जीवन में प्रयत्नहीन हो जाना,
जीवन से उपराम हो जाना।' कर्मफल के सिद्धान्त का विरोध वह यह कहकर
करता है - कर्मफल का अर्थ है कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान।' इस
प्रकार मारिश दिव्या को जीवन-प्रवृत्ति की प्रेरणा देता है।

'दिव्या' मधुपर्व के अवसर पर जब 'मल्लिका का आत्म समर्पण' नृत्य
किया और नृत्य की समाप्ति पर एक काषाय चीवरधारी भिक्षु ने ऊर्ध्व-बाहु
खड़े होकर गंभीर स्वर में जन का उद्बोधन करते हुए कहा - 'माया के बंधन
में जीव को इसी प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है।' जन को
जीवन से उपराम करने के प्रयत्न में संलग्न बौद्ध भिक्षु का विरोध मारिश यह
कहकर करता है - 'भन्ते, दुःख की भ्रांति में जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार
चलता है। वैराग्य भीरु की आत्मप्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और
असंदिग्ध सत्य है।'

युद्ध काल के समय मध्य-पथ में मधुप अपनी विवशता और दीन अवस्था
को दैवाधीन बताते हुए परलोक और पुनर्जन्म की अनेक बातें करते हैं। अपनी
वार्ता से अत्यन्त निराश और इसीलिए युद्ध से विरत और उपरमित प्रतीत होते हैं।
ऐसे ही अवसर पर मारिश उनमें से एक